सत्यांश

यौन उत्पीड़न के आरोप में आसाराम बापू और उनके पुत्र नारायण साईं पर मुकदमा दर्ज हुआ है। जल्दी ही उनके आश्रमों की कुर्की होने की संभावना है। इससे पहले भी अनेक संतों-धर्मगुरुओं पर ऐसे आरोप लगते रहे हैं। कइयों को जेल की हवा खानी पड़ी है, कई पर मुकदमे चल रहे हैं। ऐसे आरोपों के दायरे में लगभग सब प्रचलित धर्म-पद्धतियों एवं संप्रदाय के धर्मध्वजवाहक हैं। ऐसों पर केवल यौन-उत्पीड़न का ही आरोप नहीं है। बेहिसाब दौलत एकत्र करने, अवैध रूप से प्रोपर्टी हथियाने, स्टाम्प चोरी, आयकर चोरी से लेकर साधु-संन्यासी होकर भी भौतिक साधनों से ऐशो-आराम की जिंदगी जीने की बात सामने है। ये सब वही आरोप हैं जो राजनीतिक-पुरोधाओं, नौकरशाहों और जनसामान्य के बीच के आपराधिक-असामाजिक तत्वों पर लगते हैं। परंतु मूल प्रश्न यह है कि साधु-संन्यासियों, धर्मगुरुओं, संत-महात्मा कहे जाने वाले लोगों पर ऐसे आरोप क्यों लगते हैं? सच तो यह है कि इनमें से बहुत कुछ प्रत्यक्ष दिखाई देता है, केवल आरोप नहीं है। इसलिए अपार विश्वास और अंध-श्रद्धा के कारण आरोप न भी लगें, तब भी जो ऐश्वर्य-जंजाल इन लोगों का है, वह खुद ही सवाल खड़ा करता है। आखिर क्या आवश्यकता है कि माया-मोह से मुक्ति का संदेश देने वाला खुद सांसारिक भोग-विलास की माया में आह्लादित-आनंदित हो। दौलत के भौतिक ऐश्वर्यों से इन्हें क्या लेना-देना? ये सब बुराइयाँ संपूर्ण समाज में भी गहरे में व्याप्त हैं। यदि संत-महात्मा भी बाकी की तरह इसी में डुबकी लगाएँगे तो फिर कौन समाज को अधःपतन से निकालेगा?

जब से व्यवसायीकरण, बाजारीकरण का प्रकोप गहरा व तीक्ष्ण मारक हो गया है, तबसे इसके परम्परागत विरोधी भी जाने-अनजाने इसकी चपेट में आ गए हैं। परिणामस्वरूप महात्मा जन भी रागी-आसक्त-मोही हो गए हैं। उपभोक्तावादी संस्कृति में सब कुछ बाजारू होता है जिसका दाम लगता है। फलतः बाजार में वही टिकता है, जिसके हाथ में मोटा दाम होता है। इसमें क्रेता-विक्रेता का अंतर मिट गया है। दोनों की भूमिकाएँ हर व्यक्ति को निभानी पड़ती है। जो दोनों भूमिकाओं को साथ लेकर चलेगा, वही टिकेगा। आदमी-आदमी के भीतर इसी क्रेता-विक्रेता पक्ष की मारामारी का दबाव है कि वह अपना या अपने माल का अधिकतम दाम वसूल कर उस रकम से दूसरी उपभोग्य वस्तुओं का क्रय करे। यहाँ सारी मानवता, नैतिकता, शिष्टाचार, धार्मिकता ताक पर रख दी जाती है, क्योंकि इसके रहते आदमी भरपूर कीमत आँकने और कीमत लगाने की कौन कहे, अपना और दूसरे की सौदेबाजी भी नहीं कर सकता, निष्ठुर क्रेता-विक्रेता नहीं बन सकता। एक बार जब निष्ठुर क्रेता-विक्रेता बन जाता है, तब बाकी सारे मूल्य नष्ट हो जाते हैं। कुछ होशियार लोग मानवीय, धार्मिक संवेदना से 'सामंजस्य' बिठाकर उपभोक्तावाद- बाजारवाद को अपनाते हैं, जहाँ संवेदनाओं की खरीद-बिक्री की राजनीति होती है। इनमें अभिजात्य वर्गीय उच्चपदस्थ लोग, नामी-गिरामी हस्तियाँ, ज्ञानक्षेत्र के विशेषज्ञ और धार्मिक संवेदना का दोहन करने वाले माहिर होते हैं। इनकी दृष्टि बहुत खतरनाक होती है, क्योंकि इन्होंने मानव-मन के संवेदनात्मक धरातल पर उपभोक्तावाद-बाजारवाद को आत्मसात करा दिया है। खदेड़ने में यही सक्षम हो सकते थे, लेकिन इन्होंने उसे मर्मस्पर्शी धरातल प्रदान किया है।

आखिर क्या जरूरत है एक राजेनता को पूँजीपति बनने की, एक साधु-संत को विशालकाय आश्रमों और सुख-सुविधाओं में रहने की, एक विद्वान विशेषज्ञ को कुलपति, सांसद, मंत्री जैसे प्रशासकीय पद पर बैठने की, एक कुशल चिकित्सक-अभियंता को राजनीतिक एवं प्रबंधकीय पदों पर काबिज होने की? एक नेता के पूँजीपति बनने से उसके असली राजनेता का उत्थान होता है या पतन? एक संत द्वारा धन-ऐश्वर्य का प्रासाद खड़ा करना उसका उत्थान है या पतन? एक शिक्षविद का प्रशासकीय पदों पर बैठना उसकी विद्वता-विशेषज्ञता का अंत है या आरंभ? एक चिकित्सक-अभियंता द्वारा राजनीतिक-प्रशासनिक पदों को संभालना उसकी चिकित्सा-मेधा-अभियांत्रिकी का आदि है या इति? सच में देखा जाए तो यह सब पतन ही है, क्योंकि इससे मूलभूत गुणों का ह्रास होता है। अपवाद की बात अलग है कि कोई अच्छा शिक्षाविद बेहतर प्रशासक साबित हो, तब भी उसकी प्राध्यापकी पर ग्रहण तो लगता ही है।

बाजारू संस्कृति ने मूल्यांकन का आधार बदल दिया है, इसलिए नेता को राजनीति में टिके रहने के लिए पूँजी की जरूरत रहती है, धर्म का धंधा चलाने के लिए धर्मगुरुओं को बड़े-बड़े आश्रम और भौतिक संसाधनों की जरूरत पड़ती है। चिकित्सक-अभियंता को अपनी मिशनरी सेवा भाव के संतोष के समकक्ष पद, प्रतिष्ठा, प्रशासकीय रुतबा और येनकेन प्रकारेण धन ऊगाही की संभावना ज्यादा सार्थक लगती है। विशेषज्ञ विद्वान को अपनी विद्वता कायम रखने के लिए प्रशासकीय-प्रबंधकीय अधिकार की जरूरत होती है। जितना बड़ा अधिकार होगा, उतनी ही उसकी विद्वता का डंका बजेगा, उसकी चमक बढ़ेगी। अन्यथा हो सकता है कि तमाम योग्यता के बावजूद कोई उसे पूछे ही न। आजकल के उपभोक्तावादी पूँजीप्रधान समाज में उत्थान में पतन और पतन में उत्थान दृष्टिगोचर हो रहा है। यह ठीक उसी प्रकार है, जैसे युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के समय इन्द्रप्रस्थ के राजभवन में जहाँ पानी था, वहाँ सूखा दिखाई दे रहा था और जहाँ सूखा था, वहाँ पानी दिखाई दे रहा था।

वस्तुतः जब किसी भी व्यक्ति के पास बेशुमार धन-दौलत बढ़ता है, भौतिक पदार्थों का अंबार खड़ा होता है तो उसकी कामेच्छाएँ भी तीव्रतर होती जाती हैं। ये सब भोग-साधन परस्पर गुँथे हुए हैं। आदमी पद, पैसे के दुरूपयोग की ओर प्रवृत्त होता है। समाज में काली कमाई, अवैध संपत्ति एवं भौतिक साधनों का एकत्रीकरण बहुत सारे अपराधों की जड़ है। यौन-अपराध भी बहुत हद तक इसी का प्रतिफल है। इसलिए धर्मगुरुओं को भी यदि अपना गुरुत्व, संतई बरकरार रखनी है, तो उन्हें भौतिक जंजालों की प्रबंधकीय माया में फँसने से बचना चाहिए। नेताओं, ज्ञानवानों, आमजनों को यदि अपनी विशिष्टता विकसित करनी हो तो उन्हें भी मायावी-सांसारिक मकड़जालों, प्रबंधकीय-प्रशासकीय जटिलताओं का जंजाल उठाने से परहेज करना चाहिए। धर्म की आंशिक या पूर्ण मौत पर ही धर्मगुरु के पास पैसे आते हैं, राजनीति की मौत पर ही नेता के पास पूँजी आती है। ज्ञान-विद्या की मौत पर ही विद्वान के पास पद आते हैं। डॉक्टरी की मौत पर ही डॉक्टर प्रशासक बनता है। परंतु आजकल धर्म, राजनीति, शिक्षा, सेवा-मिशन स्वयं लक्षित न होकर पद, पैसा, प्रतिष्ठा की ओर उन्मुख हैं, यही बिडंबना है।